योग का अधिकारी :
हरिभद्रीय योग के संदर्भ में

कुमारी अरुणा आनन्द

भारतीय संस्कृति की यह अवधारणा है कि सभी प्राणियों को परमात्मपद मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। विविध योनियों में जन्म-मरण के अनन्त आवर्तों को पार करता हुआ प्राणी जब कर्म-भूमि में[1] मनुष्य योनि प्राप्त करता है तभी उसे अध्यात्म साधना के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने का अवसर सुलभ होता है अन्यथा नहीं।[2] मनुष्य योनि में भी सभी प्राणियों को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। असंख्य मनुष्यों में कोई विरला ही प्राणी अध्यात्म-साधना की ओर उन्मुख होता है।[3] मनुष्य की स्वाभाविक योग्यता एवं कर्म-सिद्धान्त के आधार पर जैन परम्परा में मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार केवल भव्य जीव[4]

---

१. गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्॥ विष्णु पुराण २।३।२४
तुलना, स्थानांगसूत्र ३-३
(ख) भागवतपुराण ५/७/११

२. इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते तातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ महाभारत, शान्तिपर्व, २९७/३२
(ख) भागवतपुराण ११/९/२९

३. गीता ७/३

४. (क) अर्हद्भिः प्रोक्ततत्त्वेषु प्रत्ययं संप्रकुर्वते।
श्रद्धावन्तश्च तेष्वेव रोचन्ते ते च नित्यशः॥
अनादिनिधने काले निर्यास्यन्ति त्रिभिर्युताः।
भव्यास्ते च समाख्याता हेमधातुसमाः स्मृताः। वराङ्गचरित, २६/१०-११
(ख) सम्यग्दर्शनादिभिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यतीति भव्यः। सर्वार्थसिद्धि ८/६
(ग) भव्या : अनादिपारिणामिकभव्यभावयुक्ता। नन्दीसूत्र हरिभद्रवृत्ति, पृ० ११४
(घ) भव्वा जिणेहिं भणिया इह खलु जे सिद्धिगमणजोगाउ।
ते पुण अणाइपरिणामभावओ हुंति णायव्वा॥ श्रावकप्रज्ञप्ति, ६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रदान किया गया है अभव्य[1] को नहीं[2]। जिस प्रकार मूंग में कोई दाना ऐसा होता है जिसे 'कोरडु' कहते हैं। इस 'कोरडु' का ऐसा स्वभाव है कि चाहे कितना ही प्रयत्न कर लिया जाए, परन्तु वह पकता नहीं है। इसी प्रकार अभव्य जीव में भी मोक्ष प्राप्त करने योग्य परिणामों की सम्भावना नहीं होती।

सभी मनुष्य एक जैसे स्वभाव के नहीं होते। जिन मनुष्यों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता विद्यमान होती है उनमें कुछ विशिष्ट प्रकार के गुण अपेक्षित होते हैं।

गीता में कहा गया है कि सात्त्विक गुणों से अलंकृत व्यक्ति ही मोक्ष साधना में सफल हो सकते हैं[3]। अध्यात्म-साधना की पात्रता प्राप्त करने के लिए वहाँ तीव्र वैराग्य, श्रद्धा, आत्म-तत्त्व तथा मोक्ष प्राप्ति की जिज्ञासा आदि गुणों का होना अनिवार्य बताया गया है[4]। पातंजल-योगसूत्र में भी योग-साधना का सर्वप्रथम (उपाय प्रत्यय) अधिकारी बनने के लिए मनुष्य में श्रद्धा (योग-साधना के प्रति आस्तिकता व सम्मान का भाव) वीर्य, साधना के प्रति अभिरुचि एवं उत्साह, स्मृति (अपने लक्ष्य एवं गन्तव्य मार्ग का अविस्मरण) समाधि (एकाग्रता की सामर्थ्य) और प्रज्ञा (हेय और उपादेय के विवेक से युक्त बुद्धि) आदि गुण अपेक्षित बताए गए हैं।

जैन परम्परा में भी अध्यात्म साधना के अधिकारी भव्य जीवों में श्रद्धा, धर्मश्रवण की जिज्ञासा एवं संयम पुरुषार्थ की क्षमता का होना अनिवार्य समझा गया है[5]।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त गुण सामान्य व्यक्ति को लक्ष्य करके निरूपित किये गये हैं। जो व्यक्ति पूर्व जन्म में साधना की विशिष्ट कोटि में पहुँच जाने पर भी परम लक्ष्य

---

१. (क) अश्रद्दधाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन।
अलब्धतत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः॥
अनाद्यनिधना सर्वे मग्नाः संसारसागरे।
अभव्यास्ते विनिर्दिष्टा अन्धपाषाणसन्निभाः॥ वराङ्ग चरित २६-८-९

(ख) सम्यग्दर्शनादिभिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यतीति भव्यः
यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्यः। स० सि० ६।६.

(ग) अभव्याः अनादि पारिणामिका भव्यभावयुक्ताः नन्दीसूत्र हरिभद्रवृत्ति, पृ० ११४

(घ) विवरीया उ अभव्वा न कयाइ भवन्नवस्स ते पारं।
गच्छिसु जंति व तहा तत्तु च्चिय भावओ नवरं॥ —श्रावकप्रज्ञप्ति ६७.

२. (क) निर्वाण पुरस्कृतो भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। —धवलापुस्तक पृ० १५०-१५१

(ख) भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वमनादिपारिणामिको भावः। ललितविस्तरा, पृ० २४.

(ग) पञ्चसूत्र हरिभद्रवृत्ति पृ० ३, धर्मबिन्दु, मुनिचन्द्रवृत्ति २।६८

३. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्तिं राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ गीता १४।१८

४. वही ६।३६

५. गोम्मटसार जीवकाण्ड ६५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त नहीं कर पाते, ऐसे योग-भ्रष्ट व्यक्ति को अगले जन्म में अपने पूर्व जन्म के विशिष्ट संस्कार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए उनके लिए वर्तमान जन्म में उक्त गुणों की अनिवार्यता नहीं होती। ऐसे साधकों को पातंजल-योगसूत्र में 'भवप्रत्यय' के नाम से अभिहित किया गया है[१]। इनसे भिन्न 'उपाय प्रत्यय' अधिकारी में ही उपरोक्त गुणों की अपेक्षा होती है।[२] क्योंकि चित्त की एकाग्रता एवं समाधि की सिद्धि के लिये उन्हें जो विशिष्ट प्रयास करना पड़ता है वह उक्त गुणों के बिना सम्भव नहीं होता।

जैन परम्परानुरूप योगसाधना का वास्तविक अधिकारी चारित्र सम्पन्न व्यक्ति होता है। वहाँ चारित्र से सम्पन्न होने के लिए जीव का सम्यग्दृष्टि तथा तत्त्वज्ञानी (सम्यग्ज्ञानी) होना अनिवार्य माना गया है[३]। सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) की पात्रता के लिए यह आवश्यक है कि कर्मों का आवरण इतना मन्द पड़ जाए कि जीव द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु किये जा रहे पुरुषार्थ की सफलता निश्चित हो जाए अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति का नियत काल समुपस्थित हो गया हो। उक्त काल तभी सम्भव है जब जीव के संसार-भ्रमण का काल अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन[४] जिसे आचार्य हरिभद्र ने चरमावर्त या चरम पुद्गलावर्त[५] के नाम से अभिहित किया है, मात्र शेष रह गया हो।

आचार्य हरिभद्र प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने उक्त तथ्य को अनुभव किया है और अपने सभी धार्मिक, दार्शनिक एवं योग ग्रन्थों में उसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार योग का अधिकारी होने के लिए यह आवश्यक है कि तीव्र कर्मबन्ध की स्थिति न हो, क्योंकि कर्मबन्ध की तीव्र या उत्कृष्ट[६] स्थिति वाले जीव में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की सम्भावना नहीं होती[७]। ऐसे जीव को आचार्य हरिभद्र ने 'अपुनर्बन्धक' नाम से अभिहित किया है।[८] इसे शुक्लपाक्षिक भी

---

१. पा० यो० सू० १।१९

२. वही १।२०

३. तत्त्वार्थसूत्र ११; उत्तराध्ययनसूत्र २५।२९; भगवतीआराधना ७३५

४. जीव द्वारा लोक-व्याप्त समस्त पुद्गलों को एक बार ग्रहण व त्याग करने में जितना समय लगता है उसे पुद्गल परावर्त कहते हैं, इसमें कुछ ही काल कम हो तो उसे अर्ध-पुद्गल परावर्त कहा जाता है।

५. चरम पुद्गलावर्त या चरमावर्त अनादि संसार का वह सबसे छोटा व अन्तिम काल है जिसे भोगने के पश्चात् जीव पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता।

६. जैन शास्त्रों में मिथ्यात्व (मोहनीय कर्म) बन्ध की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण तथा जघन्य स्थिति अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागरोपम मानी गई है।

—गोम्मटसार १०६ पर कर्णाटक वृत्ति

७. योगबिन्दु १०१; योगशतक १०
तुलना पा० यो० सू० २।१७, १८।

८. योगबिन्दु—१७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है[1]। क्योंकि इसमें मोहनीयकर्म के तीव्र भाव की कालिमा रूपी कृष्णपक्ष का अन्धकार नष्ट हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक गुणों के आविर्भाव रूप शुक्लपक्ष का प्रकाश उदित होने लगता है[2]। उक्त स्थिति सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व की है। इसीलिये अपुनर्बन्धक को सम्यग्दृष्टि से भिन्न समझना चाहिये।

प्रारम्भिक योगाधिकारी की अनिवार्य योग्यता

जिस प्रकार, किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व आवश्यक तैयारी के रूप में उस कार्य को करने की योग्यता अर्जित करनी पड़ती है उसी प्रकार अध्यात्म/योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व भी प्रारम्भिक योग-साधक को कुछ ऐसे कर्तव्यों का पालन करना चाहिए जिनसे योग-साधना के लिये योग्य मनोभूमि तैयार हो जाए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कभी-कभी मनुष्य आध्यात्मिकता के नाम पर अवश्य आचरणीय सामाजिक कर्तव्यों को जानबूझ कर छोड़ देता है, जिससे आध्यात्मिक मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिये आचार्य हरिभद्र ने योग-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व सामान्य गृहस्थ साधक के लिए आचरणीय कुछ आवश्यक नियमों का विधान किया है जो योगबिन्दु में पूर्व सेवा,[3] योगदृष्टिसमुच्चय में योग बीज[4] तथा योग शतक में लौकिक धर्म[5] के नाम से वर्णित हैं। पूर्वसेवा में उक्त नियमों का इतना व्यापक एवं स्पष्ट रूप से चित्रण हुआ है कि योग बीज एवं लौकिक धर्म में उल्लिखित कर्तव्य कर्म भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं। पूर्व सेवा में गुरुदेवादि पूज्य वर्ग की सेवा, दीन जनों को दान देना, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष-भाव आदि क्रियाएँ समाविष्ट हैं।[6]

इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

(१) देव-गुरु पूजन—

योग के साधक के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा केवल योग के सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान होता है। योग के व्यावहारिक पक्ष को जानने के लिए योग्य गुरु का सान्निध्य अपेक्षित है।

---

१. योगबिन्दु—७२; योगदृष्टिसमुच्चय २४

२. कृष्णपक्षे परिक्षीणे शुक्ले च समुदञ्चति।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः पूर्णानन्दविधोः कलाः ।। ज्ञानसार १।८.

३. योगबिन्दु १०९-१४९

४. योगदृष्टिसमुच्चय २२, २३, २७, २८

५. योगशतक २५, २६

६. (क) पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ।। योगबिन्दु १०९

(ख) पढमस्स लोगधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ।। योगशतक—२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिरति अज्ञानम् इति गुरुः—इस निर्युक्ति के अनुसार जो अज्ञान का नाश करता है वह गुरु है।[1] आचार्य हरिभद्र के शब्दों में "गृणाति शास्त्रार्थम् इति गुरुः अर्थात् शास्त्र के अर्थ को कहने वाले अथवा शास्त्रानुसार उपदेश देने वाले को "गुरु" कहते हैं।[2] जैन शास्त्रों के अनुसार यद्यपि कल्याण मार्ग के उपदेशक भगवान् जिनेन्द्र ही साक्षात् गुरु हैं तथापि परवर्ती छद्मस्थ ज्ञानवान् व्यक्ति भी अपने विशिष्ट गुणों के कारण कल्याण मार्ग के उपदेशक होने से "गुरु" की श्रेणी में गिने जाने योग्य हैं।[3] आचार्य हरिभद्र ने गुरु वर्ग में माता-पिता कलाचार्य (लौकिक विद्यायें एवं अन्य कलाएँ सिखाने वाला), सम्बन्धी, विप्र, वृद्ध-पुरुष, तथा धर्मोपदेष्टा—इन सभी को परिगणित किया है और योगसाधक को यह निर्देष दिया है कि वह केवल अपने धर्म-गुरु को ही गुरु मानकर उनकी सेवा करने की अपेक्षा इन सब के प्रति भी गुरु-भाव रखे[4] क्योंकि ये सभी किसी न किसी रूप में मनुष्य का मार्ग निर्देश करते हैं।

"गुरु" पद का क्षेत्र व्यापक है। इसमें तीर्थंकर, अर्हन्त, आचार्य, साधु और देव—पांचों अर्थ समाहित हैं। उक्त सभी परमेष्ठी देव साधक के लिए आराध्य, आदरणीय, पूजनीय व उपास्य हैं।[5] "देव" शब्द का अर्थ है—दीव्यन्ते स्तूयन्ते जगत्त्रयेण अपि इति देवाः[6] अर्थात् जो तीनों लोकों में दीप्यमान है, पूज्य है, स्तुत्य है वह देव है। आचार्य हरिभद्र ने "देव" को एक ऐसा आधारभूत तत्त्व माना है जिस पर किसी दर्शन व धर्म विशेष का अन्य धर्म से मौलिक भेद आश्रित है।[7]

आध्यात्मिक/योग-मार्ग के पथिक के लिए आचार्य हरिभद्र ने यह उपदेश दिया है कि सभी देव समान रूप से आदरणीय एवं पूजनीय होते हैं। अतः किसी देव-विशेष में आस्था होने पर भी अन्य देवों के प्रति द्वेष-भाव नहीं रखना चाहिए।[8] आचार्य हरिभद्र के उक्त

---

१. द्रष्टव्य—वाचस्पत्यम् कोष

२. आवश्यक निर्युक्ति, हरिभद्र वृत्ति १७९; नन्दीसूत्र, हरिभद्र वृत्ति, पृ० ३; श्रावकप्रज्ञप्ति गा० १ पर स्वोपज्ञ वृत्ति, उत्तराध्ययनचूर्णि पृ० २

३. लाटी संहिता, ४।१४२-४४; पंचाध्यायी २।६२०-२१

४. माता-पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ॥ योगबिन्दु ११०

५. रत्नकरण्ड श्रावकचार ११९, १३७; योगशास्त्र (हेमचन्द) २।५, ३।१२२-१३०;
योगदृष्टिसमुच्चय २३,२६

६. उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य टीका (पत्र ६।६)

७. षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका

८. गुणाधिक्य—परिज्ञानाद् विशेषेप्येतदिष्यते।
अद्वेषेण तदन्येषां, वृत्ताधिक्यं तथामनः ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा।
गृहिणां माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ योगबिन्दु १२०, ११७, ११८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिमत से भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में देवों के नाम पर होने वाले मतभेद को दूर करने का सर्वसमन्वय सूचक मार्ग प्रशस्त होता है।

गुरु एवं देव को यहाँ पूजनीय बताया गया है परन्तु वह पूजन किस प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि पूजन दो प्रकार का होता है – द्रव्यतः और भावतः। विशिष्ट वस्तु के उपचार से किसी देव का पूजन करना द्रव्य पूजा है और भावपूर्वक मन में उनको स्थान देना भाव पूजा है। अपना सर्वस्व देव को अर्पित करना और यथासामर्थ्य उनकी भक्ति करना, पुष्पादि द्रव्यों अथवा भाव पुष्पों से उनकी पूजा करना-- ये सब देव पूजन के अन्तर्गत आते हैं।[१] धन को तीर्थादिक शुभ स्थान में व्यय करना, देव के लिए सुन्दर मन्दिर बनवाना, बिम्ब स्थापित करवाना आदि भी देवपूजन कहलाते हैं।[२]

(२) दान—

साधक के मन में त्याग की भावना जागृत करने के लिए "दान" भी एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्तव्य है। आचार्य हरिभद्र के अभिमतानुसार रोगी, अनाथ, निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ देकर उनकी सहायता करनी चाहिए।[३] परन्तु दान देते समय यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि पुण्य के लोभ में बिना विचारे दान देने में अपने आश्रित जनों की उपेक्षा न होने लगे।[४]

(३) सदाचार—

योग के साधक के लिए नीति के उत्तम नियमों का पालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य हरिभद्र ने योग-साधक के लिए अनुसरणीय कुछ नियमों का उल्लेख किया है जिन्हें सदाचार भी कहा जाता है। ये नियम हैं—सब प्रकार की निन्दा का त्याग करना, साधु पुरुषों का गुणगान करना, विपत्ति के समय भी दीनता अंगीकार न करना और सम्पत्ति होने पर भी अभिमान न करना, समयानुकूल बोलना, सत्य बोलना और वचन का पालन करना, अशुभ कार्यों में धन और पुरुषार्थ न लगाना, कुल-क्रमागत धार्मिक कृत्यों का अनुसरण करना, प्रमाद का त्याग करना, लोक-व्यवहार में उपयोगी और लोक-व्यवहारानुसार, यथायोग्य नियमानुकूल विनय, नमन, दान इत्यादि का परिपालन करना, निन्दनीय कार्य न करना इत्यादि।[५] उक्त नैतिक गुणों का पालन करने वाला व्यक्ति ही योग का वास्तविक अधिकारी बनने योग्य होता है। योगाधिकारी नैतिक दृष्टि से तनिक भी पतित नहीं होता।

(४) तप—

तप में चित्त को योग-साधनार्थ समर्थ बनाने की शक्ति निहित है। इसलिए आचार्य

१. योगबिन्दु ११९-११६; योगदृष्टिसमुच्चय २२, २३, २६, २९,
२. योगबिन्दु ११५
३. योगबिन्दु १२३
४. पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्चयत्। योगबिन्दु १२४
५. योग बिन्दु—१२६-१३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्र ने योग-साधना की पूर्वावस्था में तप को अनिवार्य रूप से आचरणीय माना है। उन्होंने तप के अन्तर्गत जैनेतर परम्परा[1] में प्रचलित कृच्छ्र, चान्द्रायण, मृत्युघ्न और पापसूदन आदि व्रतों को भी सम्मिलित कर दिया है।[2] ऐसा करने में सम्भवतः उनके मन में यह विचार उद्भूत हुआ हो कि यदि जैन परम्परा में अणुव्रत महाव्रतों का पालन करने वाले को व्रती कहा जाता है तो जैनेतर परम्परा के चान्द्रायणादि व्रतों को करने वाला भी व्रती क्यों नहीं हो सकता अर्थात् उसे भी व्रती कहना चाहिए।

(५) मोक्ष के प्रति अद्वेष भाव—

मोक्ष के प्रति द्वेष-भाव न रखना अर्थात् मोक्ष के प्रति प्रेम करना एक अत्यन्त अनिवार्य कर्तव्य कर्म है जिसकी योग साधना में बहुत आवश्यकता अनुभव की गई है। योग मोक्ष का हेतु है। मोक्ष भोग और सुख से रहित होता है, परन्तु कुछ भवाभिनन्दी जीवों का संसार में इतना राग होता है कि वे संसार में ही अनुरंजित रहते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व मानने लगते हैं। ऐसी रागयुक्त अवस्था में संसार से मोह का त्याग सम्भव नहीं। अतः मोक्ष से द्वेष होना स्वाभाविक है[3] ऐसी अवस्था में जीव जन्म-मरण के चक्र में फँसकर संसार-वर्धन करने में लगे रहते हैं।[4] मोक्ष के प्रति द्वेष-भाव का त्याग कर उसको प्राप्त करने की जिज्ञासा तथा तत्प्राप्ति के उपायों में रुचि लेना अत्यन्त अनिवार्य कर्तव्य कर्म है। इसीलिए इसकी गुरुदेव पूजन से भी अधिक महत्ता स्वीकार की गई है।

उपर्युक्त नियमों का पालन किये बिना साधक को योग-साधना के अग्रिम सोपानों पर चढ़ने की योग्यता प्राप्त नहीं होती, इसलिए आचार्य हरिभद्र ने इन्हें योग-साधना की प्रारम्भिक भूमिका/प्राथमिक योग्यता के रूप में अनिवार्य माना है।[5] उक्त सभी क्रियाओं का समावेश पतंजलि के नियम (जिसमें क्रियायोग भी समाहित है) के अन्तर्गत हो जाता है। अन्तर इतना ही है कि पतंजलि ने इन्हें स्पष्ट रूप से पूर्व-भूमिका के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया। वस्तुतः यम और नियम दोनों ही योग की आधार-भूमि हैं। इसीलिए पतंजलि ने इन्हें प्रथम और द्वितीय योगांग के रूप में चित्रित किया है अन्यथा वे इन्हें प्रत्याहार के पश्चात् स्थान देते।

आचार्य हरिभद्र ने अपने योग-ग्रन्थों में योग की आधार-भूमि के रूप में उक्त प्राथमिक योग्यताओं पर इसलिए विशेष बल दिया है क्योंकि उनके समय में यम–नियम को छोड़कर षडंग योग की परम्परा चल पड़ी थी और आसन-प्राणायाम जैसी क्रियाओं को ही योग के रूप में प्रचारित किया जा रहा था। साम्प्रदायिक भेद इतने बढ़ गये थे कि सामान्य जनता

---

१. व्रतानि चैषां यथायेषं कृच्छ्रचान्द्रायण सान्तापनादीनि। पा० यो० सू० २।३४

२. तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम्।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम्॥ योगबिन्दु १३१

३. योगबिन्दु, १३६

४. वही, १३९

३. वही, १४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिग्भ्रमित होने लगी थी। प्रज्ञाबल असीम होने पर भी प्रसिद्ध योगियों का आचार-पक्ष शून्य होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में आचार्य हरिभद्र ने बड़ी सूझबूझ से काम लिया और योग के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए योग का अभिनव स्वरूप जनता के समक्ष रखा जो साम्प्रदायिक भेद से रहित तथा सर्वसमन्वयभाव का सूचक था। प्रारम्भिक योगाधिकारी का चित्रण कर, योग की प्राथमिक योग्यताओं के रूप में कुछ अनिवार्य नियमों का निर्धारण कर उन्होंने साधक के लिए मनोभूमि तैयार की है। नींव दृढ़ होने पर ही भवन भी सुदृढ़ होता है अतः योग के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए उनके द्वारा तैयार की गई योग्य मनोभूमि बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

वर्तमान में प्राथमिक योग्यता की प्रासंगिकता

वर्तमान स्थिति भी आचार्य हरिभद्र कालीन सामाजिक व धार्मिक स्थिति जैसी ही है। आज योग का यथार्थ स्वरूप लुप्त हो चुका है। योग का केवल बाह्य रूप ही प्रकाशित हो रहा है। योग केवल आसन, प्राणायाम, शारीरिक-शिक्षा, व्यायाम अथवा प्रदर्शन की कला नहीं है अपितु मनुष्य की बाह्याभिमुखी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने तथा आत्मस्वरूप की उपलब्धि कराने का परमोत्कृष्ट साधन है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले योग का प्रचार कम होता है जबकि आज अपने प्रचार के लिए योग के बाह्य स्वरूप का ही सहारा लिया जा रहा है। परिणामस्वरूप योग भ्रांत हो रहा है। अतः हरिभद्र द्वारा निर्धारित योग की प्राथमिक अनिवार्य योग्यता का पूर्वसेवा के रूप में जो मौलिक चिन्तन हुआ है वह वर्तमान युगीन मानव के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं अनिवार्य लोक व्यवहार है और योगी बनने से पूर्व साधक के भावों एवं आचरण को पवित्र बनाने में अत्यन्त सहायक है इसलिए अनिवार्य रूप से पालनीय है।

●

शोध सहायिका
बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी
दिल्ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org